इस प्रपंच में सिर्फ़ स्त्री न थी

सुधीश पचौरी

'नो मोर बाथरूम'। मुस्कराकर वह बोली। जैसे बिहारी की नायिका 'पावक झर सी झमकि कै गई झरोखे झाँकि'। झरोखा नहीं था। बाथरूमनुमा किसी जगह की किवाड़ें थीं। किवाड़ें न कहें। 'किवाड़ों' में भारी दरवाज़ों का बोध होता है। वे दरवाज़े थे। 'डोर'। 'किवाड़ों' में जो भारीपन है, वह 'डोर' में कितना हल्का हो जाता है। तो पहले दृश्य में सुन्दरी 'पावक झर' की तरह झाँकी और बोली 'नो मोर बाथरूम'।

एक झटका। उसके यों बिकने का। वह बिजली के झटके से भी अधिक ख़तरनाक जानलेवा था। बेचने की कला का झटका था यह। इतनी अधिक सुन्दर वह बेची जा रही थी। कह रही थी, 'नो मोर बाथरूम'। सामने हल्के नीले-हल्के चमकदार सेरेमिक में एक कमोड दिप रहा था। पास में बेसिन था उसी रंग का जिसका कमोड था। बाजू में बाथरूम था वह भी उसी रंग का। हम कहाँ आ गए थे? एक रंग की इतनी सारी चीज़ें आसपास प्रकृति ने कहीं नहीं बनाईं। तब यह किसकी दुनिया थी? झटके से उबरते हुए देखा तो सुन्दरी ग़ायब थी। अब एक धुन थी और मर्द की आवाज़ थी फिर अंग्रेज़ी इबारत थीः 'ओनली ग्लैमर रूम्स्!' और फिर सब ख़त्म! यह एक प्रपंच था। जादुई करामात!

ओह! तो जो उसने दिखाया वह उसकी भव्यता नहीं थी! भव्य कमरा था वह। उस सुन्दरी के लिए बाथरूम नहीं थे। भव्य, चकाचौंध भरे कमरे थे। 'ग्लैमर'। मैंने सोचा, ग्लैमर का अनुवाद शब्दकोश में ऐसा दिया है कि दृश्य को समझाता ही नहीं। 'चमक-दमक', 'चकाचौंध', 'दिखाऊ', 'दिखावटी'। अंग्रेज़ी से हिन्दी बनाने वाले कोशकार ग्लैमर को खींचकर लाए तो 'दिखाऊ', 'दिखावटी' तक। बहुत सोचा तो 'भव्यता' तक किन्तु ये तमाम शब्द हिन्दी में जिन स्थितियों का विशेषण बनते हैं वे स्थितियाँ 'ग्लैमर' से नितान्त रहित भी हो सकती हैं। किसी के पास झोंपड़ी है और वह अपनी बीवी को चमकदार साड़ी देता है। वह पहनकर निकलती है। उसे देख उदात्त क़िस्म का मध्यवर्ग कहेगा कि देखो! कैसी दिखावट आ गई है ग़रीबों में। वे गाजा-बाजा करेंगे तो हम कहेंगे दिखावट! चमक-दमक। राष्ट्रपति भवन पर रोशनी हो जाएगी तो कहेंगे 'भव्य'! उसे 'ग्लैमर' फिर भी न कहेंगे। तो ग्लैमर 'चमक-दमक' मात्र ही नहीं था! तब क्या है ग्लैमर मैंने पूछा। मगर किससे?

एक विचित्र-सी संरचना लहरा रही थी। जो देखा उसको। जो न देखा उसको। फिर जो न देखा था, वही टिका रह गया। बाथरूम वाक़ई न था। न उसका विचार था। इतने ग्लैमर में वह कहाँ टिकता। तो जो था वह 'बाथरूम' नहीं था। 'ग्लैमर रूम' था। बाथरूम में ग्लैमर था। ग्लैमर में बाथरूम था। मुक्ति का ऐसा लुभावना चक्कर था। बाथरूम में था! ग्लैमर रूम में!

'बाथरूम में क्या है?'

बाथरूम में होती है कभी न जाने वाली नमी। हल्की किन्तु स्थायी ऐसी गन्ध जो पेशाब, टट्टी, साबुन, पानी के रुकने-टिकने से बस जाती है। यह उन बाथरूमों की बात है जो फ़्लैटों, छोटे-बड़े पक्के मकानों में होते हैं। ये उन नगरों में होते हैं जहाँ जलमल संस्थान कम से कम दिल्ली-मुम्बई के संस्थानों की भाँति पाँच-दस फ़ीसदी क्षमता

तक काम करते हैं। क़स्बों में खुले संडास होते हैं। ग़रीब हरिजन उन्हें साफ़ करते हैं। नालियाँ बजबजाती होती हैं। जितना ग़रीब मुहल्ला, नालियाँ उतनी ही बजबजाती हैं। गाँवों में भी क़स्बों की तर्ज़ पर अब संडास बनने लगे हैं किन्तु यहाँ बहुमंज़िला न होने से वैसी दुर्गंध अधिक देर शायद न ठहरती हो और फिर भारतीय किसान दिशा-मैदान का अभी भी आदी है।

तो इतना तय था कि वह बाथरूम ही था। तब वह सुन्दरी क्या चाहती थी। वह सुन्दरी एक यथार्थ की जगह दूसरा यथार्थ रख देना चाहती थी। कहती थी कि 'बाथरूम' नहीं 'ग्लैमररूम' बनाइए घर में। चूँकि हम विज्ञापन देख रहे थे इसलिए इतना तो शुरु में ही लग गया कि इसने ऐसा कहा है। फिर भी चित्त चकराया। यह देख कि इसमें बेचने की भाषा तो है ही नहीं। 'सुन मेरी ए बिल्लो बॉबी पन्द्रह रुपये किल्लो' या 'आज ही ख़रीदें एक गिलास मुफ़्त' वाली विज्ञापन की आदिम शैली के आदी हमारे कान उन आदेशों को ढूँढ रहे थे जो डपटकर हमें सभ्य रहने के नुस्ख़े बताते आए हैं। और इस विज्ञापन में वह कहीं नहीं थे।

यह विचित्र था। अपह्नुति अलंकार था। प्रस्तुत यथार्थ का निषेध था। बाथरूम न था। काव्यशास्त्र के पण्डितों ने जिसे बनाया, सदियों पहले बनाया — वह अलंकार सुन्दरी के पास था। नायिका भेद की वह कौन-सी नायिका थी जो चुरा लाई आचार्यों के अलंकार? शुक्लाभिसारिका? कृष्णाभिसारिका? हल्के लाल, नीले सेरेमिक रंगों वाली उसी में छिपी हुई। अपह्नुति अलंकार था कि व्यभिचार, जो हो रहा था। बाथरूम नहीं था। चमक-दमक कमरा था। निवास था। आख़िर वह स्त्री क्या कह रही थी? कौन-सी दुनिया है इस दुनिया में? एक वह जो हमारी बनाई हुई है। और दूसरी वह जो फिर हमें बनाती है। हमारी दुनिया, हमें ही बनाती हुई। इन बनाने और बनने के बीच कितने चक्र हैं एक जो 'है', एक जो बना दिया गया है। ऑन्टॉलजी? कांट का 'होना' और 'बनना' यही है क्या? एक सुन्दरी ने कांट की तत्व-मीमांसा को शिला पर पटक दिया। उस दिन, उस क्षण। ओह! उस रमणी को देख जिन्हें बिस्तर याद आए, वे धन्य भाग कहाँ हैं? इस प्रपंच में सिर्फ़ स्त्री नहीं थी, और सिर्फ़ स्त्री से बँधी हुई वस्तुएँ नहीं थीं बल्कि अगली सदी के विचार थे।

इन विचारों को इससे पहले छुआ नहीं जा सका था! स्त्री ने उन्हें क़रीब ला दिया। छुला दिया। छूने योग्य बना दिया।

छुआ। तरल-चिक्कण। विचार आया।

क्या था?

वह थी।

क्या था?

वह था।

किसी ने एक स्त्री बाथरूम के कमोड से बाँध दी थी। वह इठलाकर कहती थी। कोई कराहता था और धुँधलके में सुन नहीं पड़ता था। बाथरूम में चिकनाई सोई थी। एक ही रंग में। हल्के उदास कुनकुने तौलिए में लिपटा कोई शिशु।

उस रमणी को सबने तो न देखा। जिस नायिका पर यह मार्जिनल कथा बाँधी गई, वह सबके नसीब में कहाँ। पिचासी करोड़ पचास लाख छप्पन हज़ार नौ सौ सात आठ नौ दस... में से कितनों ने देखी होगी हमारी यह सुन्दर बन्दरिया? दस फ़ीसदी, बीस-तीस फ़ीसदी। कितने देर तक देखी होगी? यही कोई पन्द्रह सेकेण्ड उसमें भी पाँच सेकेण्ड। शेष में तो बाथरूम ही दिखा। क्या जिसने उसे न देखा, उसके लिए वह थी? यानी यथार्थ के बिना भी एक कथा थी, एक नए यथार्थ की संरचना थी जो कुल पन्द्रह सेकेण्ड टिकती थी।

"तब 'नो मोर बाथरूम'?" बच्ची ने पूछा।

"हाँ! हाँ! बेटे ऐसा ही है यहाँ। तुम खेल खेलने जाओ अब।"

"ऐसा कितने दिनों से है?" क्षमा ने पूछा।

"शायद दस साल दस सौ साल से है। दस हज़ार से भी।"

"क्या वह बाथरूम नहीं था?"

"नहीं, वह हमारी बनाई हुई नयी माया थी। वह माया हमें बना रही थी।"

"ईश्वर की जगह विज्ञापन लीला करता था। वह बाथरूम नहीं होने की कह हमें बाथरूम बेचा करता था।"

"पहले लड़कियाँ क्या बेचा करती थीं?"

"जिस्म।"

"फिर कपड़े-लत्ते, नेल पॉलिश और माला।"

"वह किस युग की बात है?"

"वह अभी ख़त्म हुए युग की बात है। देखो आजकल एक सप्ताह में एक युग बदल जाता है। एक महीने में एक करुणांत कल्पांत। सालों ने सब पता लगा लिया है कि इस अजगर को ऐसे नहीं पड़े रहने देना है। बहुत हो लिया। साला पड़ा रहता है अपने मूर्ख अध्यात्म में। अब बेटा विश्वामित्र देख, इस सुन्दरी को! तेरे सिर पर न दे मारा तौलिया उसने तो अमेरिका नाम नहीं है मेरा।"

"ओह अमेरिका?" वह चिहुँकी, मेरी पत्नी जो बहुत हिम्मतवाली है, ट्रेड यूनियन किए हैं, पत्रकार है, फ़ेमिनिस्ट है।

फिर कुछ दिन गुज़रे। 'स्टारडस्ट' प्रिय पत्रिका थी पत्नी की। वह लाती। हम पढ़ते। इतनी रंगीनियों के बाद आप आसमान में गोते लगाते। महीने के कुछ दिन चैन से कटते।

उस दिन तेज़ दोपहर थी। धूप सीधी मारती थी। दीवारें तोड़ रही थी। खिड़कियों को चटकाती थी। कोई आग लगाने वाली लुक्की लगा गया था। सब कुछ जल रहा था। कूलर चल रहा था। हमारा महान खड़खड़ायमान कूलर। खाँटी भारतीय मशीन। तापमान को ढीला करने का औज़ार। ऐसी धौपर में वह रमणी फिर मुस्कराई। इस बार एक पन्ने पर फड़फड़ाती थी। हल्के गुलाब खिले थे और वह उसमें होती हुई आती थी। उसके पास एक त्वचा थी। जिसे वह एक गम्भीर उदात्त-सी सुन्दरता पर लटकाए थी जैसे गाड़ी की चाबी का छल्ला।

"जब कभी मुझे सम्पूर्ण त्वचा की ज़रूरत होती है तो मैं उसे सिर्फ़ पहन लेती हूँ।" वह फुसफुसाई।

"क्या?"

"हूँ..."

"बाथरूम के पास क्या हरित नीली त्वचा में थीं?"

"हूँ..."

"तो तुम कोई भी त्वचा पहन लेती हो? मेरा मतलब है, पहन सकती हो?"

"हाँ।"

"तुम हिन्दी बोल सकती हो?"

"बौद्रीआ का नाम सुना है?" पंखा एकदम बंद हो गया। कूलर भी जबकि बत्ती नहीं गई थी। बौद्रीआ के ज़िक्र पर भारत की डेसू मार्क़ा बिजली का आधा फ़्यूज उड़ गया था।

"बौद्रीआ को पढ़ो फिर आना हिन्दी में बहस करने। मैं यहीं मिलूँगी। इन्हीं पन्नों में।"

"तो क्या तुम खाल बिना पैदा हुई थीं?" किसी हिन्दी भाषी की तरह मैं डरा और खिसियाकर पूछ बैठा। विचित्र नैतिकता से मैं अकड़ गया था। दिमाग़ में ख़ून के थक्के जमा होने लगे थे। वह नाचने लगी थी।

"मैं सिर्फ़ त्वचा हूँ।" उसने उसी शान्त मनोहर मुस्कान में कहा। वह गुनगुनाने में लगी थी। उसके हाथ में एक ट्यूब थी। उसमें नयी खाल बन्द थी।

"तो तुम यथार्थवाद पर बात कर लो।" यह मैंने उससे नहीं। उसने मुझसे कहा मेरे छक्के छूट गए।

"मैं एकमात्र यथार्थ हूँ। हूँ कि नहीं! बोलो!" उसने ठिठोली के अन्दाज़ में कहा।

"नहीं। तुम माया हो। अनित्य। असत्य। यथार्थ नित्य होता है। तुम नित्य नहीं हो। काल नित्य है। तुम नहीं। सूर्य नित्य है। तुम अनित्य। असत्य। माया। प्रपंच।"

झूठ। फ़रेब। अमेरिका।

"अमेरिका जितनी सत्य! क्या तुम्हें वह अनित्य लगता है! तुम्हारे पेट में रोटी है न उसका रेचक है अमेरिका। तुम्हारी इस कमज़ोर बिजली को चमक देता है अमेरिका। जिस हिन्दुस्तान टाइम्स सोसाइटी में तुम रहते हो, वह क्या

है सिवाय अमेरिका की नक़ल के। साले! तेरी आत्मा तक में घुसा बैठा है वह और तू... चोटीधारी पण्डित की जनेऊ को कान पर लपेटता है और अध्यात्म की माँद में घुसा जा रहा है!"

अरे! ये क्या सुन रहा था मैं। वह खाल नहीं थी। मोडेस्टी ब्लेज़ थी। गाली उसके मुख से ऐसे निकलती थी जैसे शायरी करती हो। मैं एक बीहड़ विमर्श में उतर चुका था और पहले राउण्ड में उसने मेरे जबड़े पर एक धर दिया था। मेरी शर्म के गलपटे में कुनकुना दर्द गुम्बद बनने को जुट रहा था। वह सुन्दरी बॉक्सिंग में सिद्धहस्त थी। आक्रामक, वह यह सिद्ध करने पर उतारू थी कि वह सिर्फ़ त्वचा थी। उधर बाथरूम नहीं थे। इधर स्त्री नहीं थी। उधर ग्लैमर रूम्स थे, इधर सिर्फ़ त्वचा थी। क्या मैं एक चमड़े से लड़ रहा था। साली हिन्दी आलोचना ने अपने गौरवपूर्ण इतिहास में चमड़े पर चिन्तन ही नहीं किया। न एम.ए. में कोई पर्चा था, न एम.फिल. में। इस नए यथार्थ से झगड़ने के लिए हम पचास करोड़ लोग नाकाफ़ी थे। धूसर, मटमैले, बहते मैले में मह-मह करते उत्तर-दक्षिण के तमाम हम लोग उस एक औरत के आगे लाचार थे। मेरे मन में संचित मेरे भारत के तमाम लोग पराजित थे। मेरे पास जवाब नहीं था। मर्दानगी काम की नहीं थी। मैं उसे औसत भारतीय मर्द की तरह झापड़ रसीद नहीं कर सकता था। काश, वह हाड़-मांस की होती तो देख लेता। मैंने विचारों में संघर्ष जारी रखा। कुत्ती यथार्थवाद पर बहस करती थी।

"तेरा क्या है?"

"अपना कुछ नहीं है।"

"किसका है?"

"किसी का नहीं है। तू ले तो तेरा है। नहीं, ले तो नहीं है। बस!"

"जब तेरा कुछ नहीं तो तू सत्य कैसे हुई?"

"इसलिए कि तू इतनी देर से सिर्फ़ मेरी वजह से परेशान है। मैं तेरी परेशानी की बुनियादी वजह तेरी परेशानी जितनी तो यथार्थ हूँ। और तू कहता है, मैं अनित्य हूँ। अपने दार्शनिक ढीलेपन से तू मुझे असत्य मान रहा है। ज़रा चुस्त होकर सोच। कुछ नया पढ़-लिख तो तुझे मैं सत्य नज़र आऊँगी। तुम हिन्दी वाले बहुत सुस्त क़ौम हो। कम्पनी वाले कहते थे।"

"कम्पनी वाले? कौन कम्पनी वाले?

"त्रिकाया वाले।"

"त्रिकाया?"

"तुझे तो मालूम होगा। कबीर, निराला, मुक्तिबोध, वह बूढ़ा नागार्जुन और मंगलेश की आज़ादी में रहने वाले, तेरा जी.के. ढीला है। तुझे काल का ज्ञान नहीं है। तू पिछड़ गया है। एक युग पीछे है तू। अब तुझे समझाएँ। तेरे बस का नहीं। समूचे हिन्दी साहित्य में इस नए यथार्थ को समझने की अक़्ल नहीं। अच्छा! जेमसन को जानते हो।"

"जेमसन क्या कोई मल्टीनैशनल है वह?"

"तेरे ही कुनबे का है। मार्क्सवादी है। पण्डित है। उत्तर-आधुनिकता पर उसकी कमेंटरी मुझे भी प्यारी लगती है। तू पढ़ न उसे। तीनमूर्ति में उसकी कई किताबें है। अकेला अक़्लमन्द है वह तुम्हारे कुनबे में। नाम है फ़्रेडरिक जेमसन।"

स्टारडस्ट में उदात्त मुस्कान के साथ खाल बेचने वाली लड़की इतनी गहरी निकलेगी, मुझे सात जन्म ख़याल न होगा। पढ़ी-लिखी विदुषी नारियाँ होती हैं। पढ़ी-लिखी, ज्ञानी-ध्यानी और किसी मर्द से कम नहीं। वे बहस कर सकती हैं। शालीन, संकोची और स्पष्ट, फिर भी समाज में बनाए गए नियमों के भीतर ही विमर्श करती हैं। एकदम लीगल विमर्श। आप बोलिए। फिर हम बोलेंगे। कोई नहीं हँसेगा। और हम अंग्रेज़ी में बोलेंगे। भारत के बारे में बोलेंगे। उन तमाम विदुषी और सचमुच ही भली महिलाओं से मेरी बहस हो चुकी थी। किन्तु जो ज्ञान इस काग़ज़ की लड़की के पास था, किसी के पास न था। त्रिकाया वालों ने किसे भेज दिया मुझ फटीचर के घर! ये साला घर है या कबूतरख़ाना! मैं उसे क़ायदे में बिठा भी नहीं सकता। वह पड़ी थी, स्टारडस्ट के पन्ने में फड़फड़ाती।

फिर मैं उठा। स्टारडस्ट का तिरपनवाँ पन्ना फाड़ा। उसके पीछे श्रीदेवी, माधुरी दीक्षित, जैकी श्रॉफ़, अनिल कपूर, आमिर ख़ान, अमरीश पुरी, गुलशन ग्रोवर और संगीतकार नदीम-श्रवण, गायिका अनुराधा पौडवाल अपनी बिन्दी के साथ चली आईं।

मैने गोंद लिया। इन सबके मुस्कराते थोबड़ों पर चिपकाया और बाथरूम के शीशे पर लगा आया।

क़रीब दो सप्ताह बाद डायरिया ने पकड़ा। अमेरिका प्रेरित एण्टीबायटिक्स खा गया कि मरते-मरते बचा। घर बच्चे-बीवी ख़ूब हलकान हुए। साले! दवाइयों के अमेरिकी यथार्थ ने मारकर धर दिया। किसी पुण्य से ठीक हुआ तो एक दिन केजी के पास पहुँच गया। केजी के पास हर चीज का नुस्ख़ा था। यह भरोसा था।

"यार केजी! क्या तुम अनुभव से बाहर के अनुभव का बयान कर सकते हो? मेरा मतलब है कि वह जो सीधा तुम तक न आए, तुम स्वयं उसे क्रियेट करो, अपने लिए, जैसे मैथेमैटिक्स में करते थे कि मान लो 'वन इज़ इक्वल टू एक्स'। हाइपॉथिसिस की तरह क्या हम अनुभव बना नहीं सकते?"

इस केजी के बारे में मित्रों सिर्फ़ इतना कहना हुआ कि वह एक कोमल-सा आदमी है। अब तक सिर्फ़ पढ़ता ही रहा है। कंजूस है... बाँटने में बहुत यक़ीन नहीं करता। और अपना दोस्त है। नयी कहानी के मेरे हमदमों से कुछ गहरा और ग़ैरतमाशाई हमदम। सो अपनी उससे चलती रहती है। वह भी कन्फ़्यूज़्ड है। अपन भी हैं। सो दोनों में बड़ी तत्त्व-मीमांसा हो जाती है। वह उड़ता है, मैं काटता हूँ। मैं उड़ाऊँ तो वो काटे। तीन-चार घण्टे के बाद जो पतंगें उड़ती हैं, वे कभी उतर नहीं पातीं। डोर भी उलझकर पिण्डा बन जाती है। उत्तर-समाजवाद के इन दुर्दिनों में बहुत सारी डोरें उलझी हुई हैं। माँझा झड़ गया है। सद्दी-सद्दी बची है हुचके में।

उस शाम उसके बन्द कमरे में बैठे मैंने उससे चंद सवाल किए। एक तो ऊपर वाला था। बल्कि कहिए बुनियादी ही था। मैं 'नो मोर बाथरूम' और 'व्हेन एवर आई वाण्ट परफ़ेक्ट लुकिंग स्किन, ऑल आई डू इज़ वेयर इट' की जटिल स्त्री के यथार्थ के बारे में पूछ रहा था कि क्या ऐसा हो सकता है कि हमें ऐसे लोग मिलें जो हमसे अधिक विद्वान हों और टीवी या स्टारडस्ट के पन्नों में सेकेण्ड्स को फड़फड़ाएँ। क्या उन पर कोई कहानी गढ़ी जा सकती है? क्या एक यथार्थपरक कहानी लिखी जा सकती है? कहानी यथार्थ से खाल की तरह किसने चिपका दी है। जब कहानी अलग हो चुकी है और खाल अलग से आती है तो क्यों हम ऐसा करें कि डोरी को हर्षद मेहता बना दें। क्या ऐसा नहीं हो सकता? यदि ऐसा करें तो क्या वह कहानी बनेगी या कि विमर्श, कहानी, आलोचना, बातचीत, रिपोर्ताज, कमेन्टरी का एक फेंटा हुआ बकवास। एक कथा लेख — क्या इस बकवास में अपने काल की कथा कही जा सकती है?

उस शाम से देर तक केजी अचरज भरे ढंग से ख़ामोश रहा। फिर तीन-साढ़े-तीन घण्टे बाद बोला, "तुम इसे लिख डालो। एक बकवास ही बचा है जो लिखा जा सकता है"।

80
MONO
80
MONO
80
MONO
80
MONO